

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

ऋषिपरंपरा - पुनर्जीवन - प्रकरण

दिवसोऽन्त्यः प्रवासस्य सोऽद्याभून्मुनिमंडलम् ।
सप्ताहमवधिं कृत्वा पर्यवेक्षणयोजनाम् ॥ १ ॥
हिमाद्रेः प्रविधायैतत्क्षेत्रगौरवगानि तु ।
कारणानि परिज्ञातुं निर्गतं सोत्सुकं ततः ॥ २ ॥
नारदस्य बहुज्ञत्वकारणाल्लब्धमेव च ।
एभिरेतन्निजं सर्वमीप्सितं ज्ञानवर्द्धकम् ॥ ३ ॥
सामान्यास्ते जनास्त्वेनं हिमाद्रिं प्रोच्यमुज्ज्वलम् ।
कठोरं सजलं किं वा हिमाच्छादितमुत्तमम् ॥ ४ ॥
हरितं पार्श्वभागेषु प्रकृतेः सुषमायुतम् ।
मेनिरे द्रष्टुमायान्ति यं तु कौतुकपूर्तये ॥ ५ ॥
परिवर्तनजं लाभं प्राप्यं यान्ति स्म ते गृहान् ।
परं मंडलमेतत्तु दृष्टिं भिन्नां व्यधानिजाम् ॥ ६ ॥
उल्लासोऽतः प्रकाशश्च प्राप्तौ नव्यस्तरावपि ।
ज्ञातं तैः कथमेतस्य भारतस्य जगत्यलम् ॥ ७ ॥

भारते च हिमाद्रेस्तद् गौरवं विद्यते महत् ।
यस्माद्धेतोर्वदन्त्येनं भारतं तु जगद्गुरुम् ॥ ८ ॥
इदं सर्वमहर्षीणां व्यक्तित्वेनोच्चतां गतैः ।
क्रियाविधिभिरेवात्र जातं संभवमन्ततः ॥ ९ ॥
अन्यथाभूमिखंडानि न्यूनाधिकतया भुवि ।
समानानि हि सर्वत्र विद्यन्ते तानि तानि तु ॥ १० ॥

टीका—आज प्रवास का अंतिम दिन था। एक सप्ताह के लिए हिमालय पर्यवेक्षण की योजना बनाकर मनीषी-मंडली इस क्षेत्र की गरिमा के आधारभूत कारणों को खोजने चली थी। नारदजी की बहुज्ञता ने उन सभी को अपने ईप्सित की यह उपलब्धि करा दी, जो ज्ञानवर्द्धक सिद्ध हुई। सामान्यजनों को हिमालय ऊँचा, उज्ज्वल, हिमाच्छादित, कठोर, सजल, बढ़िया, हरीतिमा संपन्न, मात्र प्रकृति शोभा-सज्जाओं से भरा-पूरा शोभायमान ही लगता था। उसे देखने लोग कौतूहलपूर्ति भर के लिए आते थे और परिवर्तन का लाभ लेकर वापस चले जाते थे। पर इस प्रवासी मंडली ने दृष्टिकोण

६.३२ प्रज्ञोपनिषद्

भिन्न रखा। तदनुरूप प्रकाश-उल्लास भी नए स्तर का पाया। उनसे जाना कि विश्व भर में भारत की और भारत भर में हिमालय की गरिमा किस कारण है, यह वही कारण है, जिससे भारत जगद्गुरु कहलाया। यह सब ऋषियों के महान व्यक्तित्वों और उनके उच्चस्तरीय क्रियाकृत्यों के कारण ही संभव हुआ है, अन्यथा भूमिखंड तो न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र एक जैसे ही हैं ॥ १-१० ॥

मनुष्येष्वपि चाकृत्या निर्मित्या वपुषोऽथवा।
नैव कश्चिन्महान् भेदो जायते दृष्टिगोचरः ॥ ११ ॥
तेषु भेदो महान् योऽसौ लभ्यते तस्य कारणम्।
सद्भावस्य संस्कारः केवलं विद्यते त्वयम् ॥ १२ ॥
स यत्रैव यावांश्च जायतेऽधिक एव तु।
औत्कृष्ट्यं तावदेवासावुत्पादयति तत्र च ॥ १३ ॥
दृष्टिगोचरतां याति तावती चोपयोगिता।
तत्र तत्र तथा लोकश्रद्धाऽप्येषाऽभिवर्षति ॥ १४ ॥
धन्यतां ये गताश्चान्यान् धन्यान् येऽकार्षुर्न तु।
रहस्यं चेदृशां नृणां स्थानानां गुप्तमस्त्यदः ॥ १५ ॥
तथ्यमेतच्च विज्ञातुं यतन्ते ये च कुर्वते।
मार्गदर्शनमस्त्येषां प्रवासः सार्थकस्त्वयम् ॥ १६ ॥
अन्ये मृगकपोतानां गणा इव दिशो दश।
मनोविनोदहेतोस्तु प्रधावन्त निरंतरम् ॥ १७ ॥
शाखामृग समास्ते च शाखाभ्योऽन्या निरन्तरम्।

समाश्रयन्ति शाखास्तु श्रमकालविनाशकाः ॥ १८ ॥

टीका—मनुष्यों के बीच भी आकृति एवं शरीर-सरंचना की दृष्टि से कोई बड़ा अंतर नहीं है, फिर उनके बीच जमीन-आसमान जैसा जो अंतर पाया जाता है, उसका एकमात्र कारण सदाशयता का पुट लगना ही है। वह जहाँ जितनी मात्रा में अधिक होता है, वहाँ उतनी ही उत्कृष्टता उत्पन्न करता है वहाँ उतनी ही उपयोगिता भी दृष्टिगोचर होती है। तदनुरूप लोक-श्रद्धा भी उतनी ही बरसती है। धन्य बनने और बनाने वाले व्यक्तियों तथा स्थानों के पीछे यही रहस्य छिपा रहता है, जो इस तथ्य को समझने का प्रयत्न करते हैं, उन्हीं का प्रवास-पर्यटन सार्थक होता है। अन्य लोग तो हिरन-कबूतरों की तरह मन बहलाव के लिए इधर-उधर दौड़ लगाते रहते हैं। बंदरों की तरह इस डाली से उस डाली पर उचकने-मचकने वाले अपने समय-श्रम को जिस-तिस प्रकार बिताते भर रहते हैं ॥ ११-१८ ॥

प्रवासस्य श्रमो विज्ञवर्गस्याभूत्तु सार्थकः।
यतस्तैर्दृष्टिरादत्ता दिव्या वैज्ञानिकी बुधैः ॥ १९ ॥
ज्ञातुं दृश्यगतान्यत्र तथ्यान्युच्चस्तराणि तु।
अकार्षुरिदमेवात्र तत्त्वदर्शिन उक्तमाः ॥ २० ॥
कृष्णांगार समादस्मात्संसारान् बहुमूल्यकान्।

लभन्ते हीरकान् क्षारात् समुदात्ते यथा सदा ॥ २१ ॥
मज्जका गहने गत्वालभन्ते मणिमौक्तिकम्।
प्रतिभैव नरानुच्चान् कुरुते सूक्ष्मदृष्टितः ॥ २२ ॥
नेत्राभ्यां दृश्यते यत्तु तदेवास्तीतिवादिनः।
इंद्रियप्रियवस्तूनामनुगन्तार एव ये ॥ २३ ॥
नरास्ते पशुभिस्तुल्यं जीवन्तीह तथाऽन्ततः।
पश्चात्तापभराक्रांता रिक्तहस्ताः प्रयान्त्यतः ॥ २४ ॥
विचारेणाद्य चैतेन दिने संपूर्ण एव तु।
स्थित्वैकस्मिंस्तु देशे तन्मण्डलं निश्चयं व्यधात् ॥ २५ ॥
यद् दृष्टं तु तदाश्रित्य निर्मेयं किमपि स्वयम्।
परित्यज्य प्रवासं तु ज्ञानगोष्ठीं सुयोजिता ॥ २६ ॥
संगमेलकनन्दाया भागीरथ्याः स्थिते शुभे।
देवप्रयागतीर्थे ते शिलाखण्डं समाश्रिताः ॥ २७ ॥
विचारे संनिमग्नास्ते शोभामापुर्यथा दिवि।
सप्तर्षिमण्डलं रात्रौ वैशिष्ट्यं द्योतयत्यलम् ॥ २८ ॥

टीका—इस विज्ञ समुदाय का प्रवास श्रम सार्थक हुआ, क्योंकि उनसे दृश्य के पीछे छिपे हुए तथ्यों को समझने की वैज्ञानिक दृष्टि अपनाई। तत्त्वदर्शी यही करते रहे हैं और इस कोयले की खदान जैसे कुरूप संसार में से बहुमूल्य हीरक उपलब्ध करते रहे हैं। खारी समुद्र में से गोताखोर ही गहरी डुबकी लगाते और मणिमुक्त क बटोरते हैं। सूक्ष्मदृष्टि में प्रतिभा ही मनुष्य को ऊँचा उठाती, आगे बढ़ाती है। जो दीखता है, उसी को सब कुछ मान बैठने वाले और जो इंद्रियों को प्रिय है, उसी के पीछे दौड़ने वाले व्यक्ति नर-पशुओं जैसा जीवन बिताते और अंततः पश्चात्ताप का पोटला सिर पर लाद कर हाथ मलते हुए इस संसार से विदा होते हैं। इस विचारणा के साथ आज का दिन मंडली ने एक स्थान पर बैठकर जो देखा, उसके आधार पर किसी निर्णय-निष्कर्ष तक पहुँचने का निश्चय किया। सो प्रवास स्थगित रखकर ज्ञान-गोष्ठी की योजना बनाई गई। अलकनंदा और भागीरथी के संगम पर बसे हुए देव प्रयाग के एक सुरम्य शिलाखंड पर बैठकर वे लोग विचार मग्न हो गए। वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो आकाश में रात्रि के समय सप्तऋषि मंडल प्रकाशवान होकर अपनी विशिष्टता का परिचय दे रहे हों ॥ १९-२८ ॥

मंडलस्य सदस्यास्ते कृतवन्तः स्वकां ततः।
जिज्ञासां भगवन् सोऽयं हिमाद्रिः संस्कृतिश्च सा ॥ २९ ॥
नरा अपि तथा चैव स्थितावेव तिरोहिता।
पुण्यालोकहिता श्रद्धायुतैर्षि - परंपरा ॥ ३० ॥
पूर्वस्मिन् समयेत्त्वल्पा ऋषयो दिव्यतेजसः।
भारतस्य समस्तस्य विश्वस्यापि निरंतरम् ॥ ३१ ॥
मर्त्यगौरवजं पुण्यमौत्कृष्ट्यं स्थापितं व्यधुः।

वर्द्धिताश्चक्रुरेषोऽद्य समाप्तो वर्ग एव तु ॥ ३२ ॥
 तथावेषधरामर्त्यास्तदाडंबरकारिणः ।
 संतो लक्षधिका दृष्ट्या पौरुषेण तथैव च ॥ ३३ ॥
 चरित्रेण तथा नैव सन्ति चैवं स्थितावयम् ।
 हिमगिरेर्दृश्यभागस्तु दुर्गतो ध्वंसदुःखतः ॥ ३४ ॥
 शोभायां विद्यमानायामपि तद्गौरवस्य सः ।
 निर्माता मुख्य आधरो मृग्यते नैव मार्गणात् ॥ ३५ ॥
 देवास्य कारणं ब्रूतां निवारणमपि प्रभो ।

मनोऽस्माकं व्यथाव्याप्तं ग्लान्या भारायितं तथा ॥ ३६ ॥
 टीका—मंडल के सदस्यों ने पूछा भगवन हिमालय वही है, संस्कृति का अस्तित्व भी है, मनुष्य भी वैसे ही है, इतने पर भी अब लोक हितैषिणी श्रद्धेय ऋषि परंपरा तिरोहित कैसे हो गई? पूर्वकाल में मुट्ठी भर ऋषि ही इस देश की समस्त संसार की मानवी गरिमा की उत्कृष्टता बनाते और बढ़ाते रहते थे, पर अब तो वह वर्ग एक प्रकार से समाप्त हुआ जैसा ही लगता है। वैसा वेष और आडंबर बनाने वाले लाखों की संख्या में रहते हुए भी न वैसा दृष्टिकोण है, न चरित्र, न पुरुषार्थ। ऐसी दशा में हिमालय का दृश्यमान कलेवर भी ध्वसांवेश की तरह दुःखी दुर्गतिग्रस्त हो रहा है। प्रत्यक्ष शोभा बनी रहने पर भी उसकी गरिमा बनाए रहने वाला आधार कहीं खोजे नहीं मिलता। हे देव इसका कारण और निवारण बताने की कृपा करें। हम सबका मन ग्लानि से बोझिल और व्यथित हो रहा है ॥ २९-३६ ॥

भद्राः परणतिस्वेषा स्थूलदृष्टेर्हि वर्तते ।
 तथ्यान्वेषकरी बुद्धिर्दुर्बला जायते ततः ॥ ३७ ॥
 बाह्यं कलेवरं मत्वा सर्वस्वं पुरुषा अथ ।
 अंधानुसरणेनैवमुपहासं व्रजन्ति च ॥ ३८ ॥
 स्वयं भ्रान्ता भवन्त्येवमसंख्यान् भ्रामयन्त्यपि ।
 भ्रान्ता विन्दन्त्यनर्थं च जानन्त्येतत्समेऽपि तु ॥ ३९ ॥
 अन्यक्षेत्रमिवैषाऽपि दुर्गतिं भजते पराम् ।
 शोच्यां, पण्यतमा लोक इयमृषिपरंपरा ॥ ४० ॥
 बल्लैर्वसनैरत्र हिमाद्रावृषयः पुरा ।
 कुर्वते कार्यसिद्धिं ते गैरिकांबर धारणात् ॥ ४१ ॥
 तथा वेषोऽधुना मर्त्यैः स्वीकृतः शीतवारणम् ।
 तदा न्यैरकार्षुश्च दारुभिः कृष्णवर्त्मगैः ॥ ४२ ॥
 निर्गतं भस्मगात्रे ते लेपने चोपयुज्जते ।
 शीतोष्णसहने ऽनेन सारल्यं जायते स्म च ॥ ४३ ॥
 नाधुना सुलभान्येव दारुण्येवं न चाधुना ।
 वस्त्राणां न्यूनतास्तीह तथाप्यत्र तु साधवः ॥ ४४ ॥
 छायाग्राहितया तस्य चलनस्य तु कुर्वते ।
 अंधानुसरणं तेऽद्य विचारेण विनैव तु ॥ ४५ ॥
 टीका—नारद बोले हे भद्रजनो यह स्थूल दृष्टि का परिणाम

है। जब तथ्यान्वेषी बुद्धि पार कर जाती है, तब मनुष्य मात्र बहिरंग कलेवर को ही सब कुछ मान बैठते हैं और अंधानुकरण करके उपहासास्पद बनते हैं, स्वयं भ्रमित होते और असंख्यों को भ्रम में डालते हैं। भ्रमित जनों के पल्ले अनर्थ ही पड़ता है इसे सभी जानते हैं। वैसी ही दुर्गति अन्य क्षेत्रों की तरह पवित्र ऋषि परंपरा की भी रही है। कभी ऋषियों को हिमालय क्षेत्र में उपलब्ध वल्कल वस्त्रों से काम चलाना पड़ता था। अब उसकी चिह्न पूजा के लिए गेरुए वस्त्र पहन कर वैसा ही स्वरूप बनाया जाता है। उन दिनों शीतनिवारण के लिए वन क्षेत्र में विपुल मात्रा में लकड़ी रहती थी। उसे साफ करने और शीत निवारण के लिए वे उसे धूनी के रूप में जलाते रहते थे। निकलने वाली भस्म को शरीर पर लपेटते थे, इससे गरमी-सरदी का सहन कर पाना सुगम हो जाता था, पर अब न तो लकड़ी सुलभ है और न वस्त्रों का अभाव फिर भी तथाकथित साधु जन लकीर पीटने के लिए उसी प्रचलन का विचारे अंधानुकरण करते हैं ॥ ३६-४५ ॥

नारिकेलस्य तुम्ब्याश्च जलपात्राणि चाञ्जसा ।

सुलभानि तदाऽभूवन् परिग्रहमानि तु ॥ ४६ ॥

पात्रेषु चाल्पमूल्येन प्राप्तव्येष्वपि तेष्वलम् ।

आग्रहः क्रियते नैतत्समयानुमतं नृणाम् ॥ ४७ ॥

अग्निं व्यवस्थितं कर्तुं सन्देशोऽपेक्ष्यते तथा ।

छेतुं गुल्मादिकं तत्र कुठारोऽपेक्ष्यतां गतः ॥ ४८ ॥

अस्त्रतां गच्छति क्वापि तथावश्यकता विधेः ।

तथा स्थिता वसत्यां ते धारयन्त्यद्य तानि च ॥ ४९ ॥

स्वयं मृतानां वन्यानां पशूनां तूपयुज्जते ।

चर्म ते चासनस्थाने परं हत्वाऽद्य तान् पशून् ॥ ५० ॥

चर्मप्राप्तौ विशुद्धत्वं कुतस्तद् विद्यते तथा ।

पुराणे समये चाति विशिष्टान्वेषणेच्छया ॥ ५१ ॥

अभ्यासार्थमिहैकांतवनानां भवति स्म सा ।

इहावश्यकता लभ्या जाताश्चास्मै गुहास्तदा ॥ ५२ ॥

परमद्य तथा शोध - प्रयोजनमृतेऽपि तु ।

वातपूर्णकुटीनां च व्ययेऽल्पेऽधिगतावपि ॥ ५३ ॥

गुहा निर्मान्ति व्यर्थं च तत्र ते च दिवानिशम् ।

बिलेशया इव स्थित्वा समयं नाशयन्त्यलम् ॥ ५४ ॥

विना कारणमत्रैव तदावरणनिर्मितिः ।

उदरं भरितामात्रं बालबुद्धिरथास्ति वा ॥ ५५ ॥

टीका—उन दिनों तूबा और नारियल के जल पात्र वन क्षेत्र में सहज उपलब्ध होते थे, अस्तु वे अपरिग्रह के चिन्ह थे, किंतु आज बरतन सस्ते और सुविधाजनक होने पर भी उन्हीं वस्तुओं के लिए आग्रह रखा जाना समय के अनुकूल नहीं है। अग्नि सँभालने के लिए बड़ा सा चिमटा झाड़ियाँ साफ करने के लिए कुल्हाड़ी नित्य की आवश्यकता पूरी

६.३४ प्रज्ञोपनिषद्

करती थी। वह आवश्यकतानुसार अस्त्र का भी काम करती थी, पर आज वैसी परिस्थिति न होने पर भी लोग इन उपकरणों को धारण किए फिरते हैं। वन प्रदेश में अपनी मौत मरने वाले पशुओं का चर्म आसन आदि के काम आता था, किंतु अब हत्या करके उन्हें प्राप्त किए जाने पर शुद्धता कहाँ रही? पुराने समय में अतिमहत्वपूर्ण अन्वेषण-अभ्यास के लिए एकांतवन की आवश्यकता पड़ती थी, इसके लिए पर्वतीय गुफाएँ सहज उपलब्ध थीं, पर अब वैसा शोध प्रयोजन सामने न रहने पर भी हवादार झोंपड़े सस्ते पड़ने पर भी लोग गुफा बनाते और उनमें अजगर की तरह निरर्थक समय नष्ट करते हुए पड़े रहते हैं। कारण न होने पर आवरण बनाना बाल बुद्धि का चिह्न या उदरपूर्ति मात्र का साधन माना जाएगा ॥ ४६-५५ ॥

परिस्थित्यनुरूपेण निर्धारणमथापि वा ।
परिवर्तनमस्त्येव बुद्धिमत्तादि लक्षणम् ॥ ५६ ॥
अदूरदर्शिताभावक्रमेऽन्धानुगतेस्तु ताः ।
गृह्यन्ते मान्यतामूढभावपुष्टा नरैः सदा ॥ ५७ ॥
मूढा परंपराणां तु कुर्वन्ते ते दुराग्रहम् ।
आहुः प्रचलनान्येव कुरीतीर्यानि चान्ततः ॥ ५८ ॥
उपहासास्पदान्येवं मर्त्यहानिकराण्यपि ।
सिद्धत्येतानि संत्यक्तुं चलन्त्यान्दोलनान्यपि ॥ ५९ ॥
सामान्यानां नृणामेव स्थितिश्चेत्संचलेदिह ।
परंपरायां दिव्यायामृषीणामपि तत्तदा ॥ ६० ॥
दुर्भाग्यविषयो नूनं वक्तव्यः स्याद् बुधैः समैः ।
अद्य दुर्भाग्यगतेऽस्मिन् मज्जत्येषा परंपरा ॥ ६१ ॥
हिमाद्रिक्षेत्रमेतच्चाऽभावेऽस्य जायतेऽधुना ।
तेजो रहितमत्यर्थं सर्पो लुप्तमणिर्यथा ॥ ६२ ॥
तस्मिन् क्षेत्रे समस्तेऽपि बाह्यं सौन्दर्यमुत्तमम् ।
प्रकृतेस्तु तथैवैतद् विद्यते परमस्य ते ॥ ६३ ॥
प्राणाः क्षीणा इवाद्याभूद् येषां हेतोश्च गौरवम् ।
स्वर्गोपमं सहैवास्य तेजस्वित्वेन हन्त ते ॥ ६४ ॥

टीका—परिस्थिति के अनुरूप निर्धारण एवं परिवर्तन करते रहना बुद्धिमत्ता का चिह्न है, पर अदूरदर्शिता का, दौर चढ़ने पर तो अंधानुकरण की मूढ़मान्यताएँ ही अपनाई जाने लगती हैं। मूढ़मति लोग परंपराओं का दुराग्रह करते हैं। ऐसे प्रचलन ही कुरीतियाँ कहलाते, उपहासास्पद और हानिकारक ठहरते हैं। उन्हें बदलने के लिए सुधार आंदोलन भी चलते हैं। सामान्य जनों की भाँति यदि ऋषि परंपरा के संबंध में भी वैसी ही विडंबना चल पड़े, तो उसे दुर्भाग्य का विषय माना जाएगा। आज इस दुर्भाग्य के गर्त में ही ऋषि परंपरा समाती चली जा रही है। अस्तु हिमालय क्षेत्र इस अभाव में मणिविहीन सर्प की तरह निस्तेज होता चला जा रहा है। उसमें प्रकृति

शोभा-सौंदर्य का बाह्य कलेवर तो यथावत् बना हुआ है, पर वह प्राण क्षीण हो चला, जिसके कारण उसकी तेजस्विता और गरिमा कभी स्वर्गोपम बनी हुई थी ॥ ५६-६४ ॥

निस्तेजस्त्वविधे हेतुमस्याजानन् समेऽपि ते ।
विडम्बनास्थितिं दिव्यां समाप्यर्षि- परंपराम् ॥ ६५ ॥
दुःखमापुरथैतस्मिन्नवसादे समेऽपि ते ।
नारदं पृष्ठवन्तस्ते विधिं च सरलं शुभम् ॥ ६६ ॥
दुर्गतेरन्त एतस्याः कथं स्यात् परिवर्तनम् ।
शोधकार्यं दिनेष्वत्र स्यातां किं निकटेऽपि ॥ ६७ ॥
देवसंस्कृतिरेषोक्ता लोकेऽस्मिन्नजराऽमरा ।
तत्तस्या दुर्गतिं दूरीकर्तुं मृग्यो विधिर्नवः ॥ ६८ ॥
निराशा नैव संचित्या जीर्णता समुपैत्यपि ।
न स्थिता सृज्यतेऽस्यास्तु स्थाने नव्योविधिः पुनः ॥ ६९ ॥
वृद्धारुग्णामशक्तां च स्थितिं यान्यथ तद्वपुः ।
तेषां प्रकृतिरादाय ददात्यन्यद् भवान्तरे ॥ ७० ॥
उपसंहारमेत्येष मध्याह्नान्ते तु भास्करः ।
अन्तेऽस्ताचलमभ्येति क्रमः प्राकृतिकस्त्वयम् ॥ ७१ ॥
परमस्मात्समुत्पन्नो नान्धकारोऽत्र तिष्ठति ।
सदा प्राभातिकस्तं च नाशयत्यरुणोदयः ॥ ७२ ॥

टीका—हिमालय क्षेत्र की निस्तेजता का कारण ऋषि-परंपरा का अवसान और उसके स्थान पर विडंबना का ठाट-बाट के साथ विराजमान हो जाना मंडली के सभी सदस्यों ने जाना। इस अवसाद पर दुःख मनाया। साथ ही नारद जी से पूछा, इस दुर्गति का अंत कैसे होगा? उसमें सुधार-परिवर्तन के लिए क्या कुछ अगले दिनों बन पड़ेगा? देव संस्कृति को अजर-अमर माना जाता रहा है, तब फिर उसकी दुर्दशा को दूर करने का कोई नया उपाय भी बनना चाहिए। नारद जी ने कहा निराश होने की कोई बात नहीं। जीर्णता आती तो है पर वह स्थिर नहीं रहती। उसके स्थान पर नव सृजन का भी विधि-विधान है। वृद्धजन अशक्त और रुग्ण स्थिति में जा पहुँचते हैं, तो प्रकृति उनका वह कलेवर छीन लेती है और नया जन्म देकर नया शरीर प्रदान करती है। सूर्य मध्याह्न क उपरांत ढलने लगता है और अंततः अस्त हो जाता है यह प्रकृति का निश्चित क्रम है, किंतु इस कारण उत्पन्न हुआ अंधकार भी सदा ठहरता नहीं, प्रभातकालीन अरुणोदय उसका भी अंतर करके रहता है ॥ ६५-७२ ॥

पत्र शातनकाले च गते किसलयास्तथा ।
सुमनांसि च रम्याणि मधुराणि फलान्यपि ॥ ७३ ॥
उत्पद्यन्ते तथा नैवावसानं तिष्ठति क्वचित् ।
चिरायास्य भजत्येव स्थानमभ्युदयः क्रमात् ॥ ७४ ॥
व्यवस्थां नियतेरेनां जानता चिन्त्यतामिदम् ।
परिवर्तनमेषोऽत्र समयस्तु गमिष्यति ॥ ७५ ॥

देवसंस्कृतिसम्बद्धं गौरवं पुनरेव च ।
नवोत्कर्ष - सुयोगं च प्राप्स्यतीह सुनिश्चितम् ॥ ७६ ॥
विज्ञैराशा च कर्तव्या सदोज्ज्वलभविष्यतः ।
निराशैर्नैव भाव्यं च विपन्नासु स्थितिष्वपि ॥ ७७ ॥
निराशस्य जनस्यैवं तिष्ठतो न मनोबलम् ।
पौरुषं च ततो हानिं भजते व्यर्थमेव सः ॥ ७८ ॥
क्षतेः स्वनिर्मितायाः स्वं बुद्धिमान् रक्षति स्वयम् ।
मनःस्थित्या तथा भाव्यमस्माकमपि संततम् ॥ ७९ ॥
चेष्टितव्यं परिष्कर्तुं तथैव परिवर्तितुम् ।

टीका—पतझड़ के उपरांत पेड़ों पर नए कोपल ही नहीं, सुरम्य फूल और मधुर फल भी आते हैं। अवसान भी सदा नहीं रहते। उनका स्थान अभ्युदय भी यथा समय ग्रहण करता है। इस नियति व्यवस्था को समणते हुए ये सोचा जाना चाहिए कि समय बदलेगा और देव संस्कृति की गरिमा का नए सिरे से उत्कर्ष अभ्युदय का सुयोग बनेगा। विज्ञ जन को उज्ज्वल भविष्य की ही सदा आशा करनी चाहिए। विपन्न परिस्थितियों में भी निराश नहीं होना चाहिए। निराश व्यक्ति मनोबल और पुरुषार्थ दोनों ही खो बैठता है और अकारण घाटा उठाता है, इस स्वनिर्मित क्षति से हर बुद्धिमान अपने को बचाता है। हमारी मनःस्थिति भी वैसी ही रहनी चाहिए और यथासंभव सुधार-परिवर्तन की चेष्टा करनी चाहिए ॥ ७३-७९ ॥

अवोचंस्ते बुधाः श्रेष्ठस्त्रिकालज्ञो भवानिह ॥ ८० ॥
उपायं कृपया ब्रूतां येन स्याज्जीविता पुनः ।
लोकमंगल सद्भावा दिव्यैषर्षिपरंपरा ॥ ८१ ॥
स्वरूपं नूतनं तस्यास्तथा स्याद् दृष्टिगोचरम् ।
यथाऽभूच्च पुराकाले तीर्थक्षेत्रेषु सर्वदा ॥ ८२ ॥
परिवर्तनकाले च युगस्यैष महत्तमाम् ।
उवाह भूमिकां प्राणप्रवाहो हिमभूभृतः ॥ ८३ ॥
समयः कांक्षते तस्याः पुनरावृत्तिमेकदा ।
पुनरेव ततो ब्रूतामस्माभिः किं विधीयताम् ॥ ८४ ॥

टीका—मनीषी मंडल ने पूछा, आप ऋषियों के मूर्द्धन्य और त्रिकालदर्शी हैं। कृपया ऐसा उपाय बताइए जिससे लोकमंगल की सद्भावना से युक्त ऋषि परंपरा पुनर्जीवित हो सके। उसका अभिनव स्वरूप वैसा ही दृष्टिगोचर होने लगे जैसा कि पुरातन काल में तीर्थ क्षेत्रों में सदा दृष्टिगोचर होता था। युग परिवर्तन के अवसर पर हिमालय क्षेत्र का प्राण-प्रवाह सदा अपनी विशिष्ट भूमिका निभाता रहा है। समय की मांग उसी की पुनरावृत्ति की है। सो बताएँ कि हम लोगों को इस निमित्त क्या करना चाहिए ॥ ८०-८४ ॥

इमं हृदयसम्भूतं विचारं भवतामहम् ।
मन्ये परात्मनः प्राप्तमात्मनश्च विशेषतः ॥ ८५ ॥

प्रतीक्षा त्यज्यतामन्यैः कर्तव्यस्यात्र कर्मणः ।
ग्राह्यानां कर्मणानां च मूकदर्शनभूमिकाम् ॥ ८६ ॥
स्वयं चैव शुभारंभः क्रियतामचिरेण तु ।
निः शंकमभियातव्यमत्रैकाकिभिरप्यलम् ॥ ८७ ॥
शूरैः सत्साहसैरग्रगामिनस्तु पदक्रमाः ।
न्यस्तास्ताननुजग्मुश्चासंख्यास्ते भावनायुताः ॥ ८८ ॥
भवितव्यं तदेवस्मिन् शुभे चावसरे पुनः ।
नवनिर्धारणेऽस्मिन् स्यात्प्रयासो भवतां मुखः ॥ ८९ ॥
पिपीलिका अपि घ्नन्ति संहत्या बलिनं गजम् ।
कुर्वते रसयुक्तां च शरघां मधुमक्षिकाः ॥ ९० ॥
विहितं वानरैर्ऋच्छै रामकार्यमभूत्तदा ।
गोपबालैः कृतं कृष्णकार्यं तत्सफलं महत् ॥ ९१ ॥
सर्वेषां विदितं चैतद् देवसंयुक्तशक्तिजम् ।
दुर्गावतरणं जातमृषिरक्त - निधेर्घटात् ॥ ९२ ॥
सीताया जन्मसञ्जातं व्याप्ता चासुरता ततः ।

समाप्ताऽथ भवन्तःस्वान् मन्यन्तां नाल्पपौरुषान् ॥ ९३ ॥
टीका—नारद जी ने कहा, आपकी इस अंतःकरण में उद्भूत होने वाली विचारणा को हम आत्मा और परमात्मा का अपने लिए विशेष रूप से भेजा गया परामर्श मानें। अन्यान्यों के द्वारा कुछ किए जाने की प्रतीक्षा छोड़ें और अकर्मण्यों की तरह मूक दर्शक की भूमिका न निभाएँ, शुभारंभ अपने से करें। एकाकी चलें, साहसी शूरवीरों ने सदा से अग्रगामी कदम उठाए हैं, उनके पीछे अनायास ही अगणित भावनाशील चलते रहे हैं। इस अवसर पर भी वही होना चाहिए। इस नव-निर्धारण में आप सबका प्रयास प्रमुख रहना चाहिए। मिल-जुलकर प्रयास करने से चींटियाँ भी हाथी को मार सकती हैं और मधुमक्खियाँ भी रस भरा छत्ता बना सकती हैं। रीछ-वानरों द्वारा किया गया राम कार्य और ग्वाल-बालों द्वारा किया गया कृष्ण सहयोगी कार्य कितना सफल हुआ, यह सर्वविदित है। देवताओं की संयुक्त शक्ति से दुर्गा का अवतरण हुआ था। ऋषियों के रक्त संचय से घड़ा भरने पर सीता का जन्म हुआ और संव्याप्त असुरता का समापन हुआ था। आप लोग अपने को सामान्य न मानें ॥ ८५-९३ ॥

संकल्पान् महतो ये तु कुर्वते पौरुषेषु च ।
महत्स्वत्र प्रवर्तन्ते महान्तः कथितास्तु ते ॥ ९४ ॥
सफलं यशस्विनं देवो निर्मात्येषां पराक्रमम् ।
भवन्तो यदि संनद्धाः कर्तुं च किमपि स्वतः ॥ ९५ ॥
शुभं मुहूर्तमद्यैव ज्ञात्वा सर्वोत्तमं ततः ।
संकल्पः क्रियतां विश्वकल्याणाभिमुखो द्रुतम् ॥ ९६ ॥
किं कार्यं कः प्रकारश्च कुतः कार्यमिति क्रमात् ।
श्रुत्वाप्रश्नान् महर्षिः स उदतारिच्च नारदः ॥ ९७ ॥
स्मरन्त्वद्य भवन्तस्तां दिव्यामृषिपरंपराम् ।

६.३६ प्रज्ञोपनिषद्

प्रयासास्तत्कृता ग्राह्याः कार्यं कार्यं च संहतैः ॥ ९८ ॥
विवेकशीलताऽथापि दायित्वं सचरित्रता ।
पराक्रमो भवद्भिः स आश्रितव्यः समैः सदा ॥ ९९ ॥
महत्त्वाकांक्षया नैव पृथग् भूतैरसंहतैः ।
कार्यं कर्तुं विचार्य तु कदाचिदपि पूरुषैः ॥ १०० ॥
शक्तेरपव्ययो नूनं पृथग् भावात् जायते ।
उद्भवः सहयोगाच्च प्रगतेस्तु प्रपद्यते ॥ १०१ ॥
तथ्यस्यास्य स्मृतावत्र स्वीकृतावपि विद्यते ।
कल्याणं परमं नृणां न तु विस्मरणे क्वचित् ॥ १०२ ॥
टीका—महान संकल्प करने वाले और महान पुरुषार्थ में
जुट पड़ने वाले महान कहलाते हैं। उनके पराक्रम को भगवान
यशस्वी और सफल बनाते हैं। आप भी कुछ करने के लिए
उद्यत हो सकें, तो इसके लिए आज का मुहूर्त ही सर्वोत्तम है।
विश्वकल्याणकारी संकल्प आप लें। क्या करना चाहिए?
किस प्रकार करना चाहिए? कहाँ से करना चाहिए? इन
प्रश्नों के उत्तर में नारदजी ने कहा आप लोग ऋषि परंपरा का
स्मरण करें। उनके द्वारा जो किया गया था, उन प्रयासों को
अपनाएँ और मिल-जुलकर काम करें। समझदारी, ईमानदारी,
जिम्मेदारी और बहादुरी का आश्रय लें। महत्वाकांक्षाओं से
प्रेरित होकर अलग-अलग काम करने की बात कभी न
सोचें। बिखराव में शक्ति का अपव्यय और सहयोग से प्रगति
का उद्भव होता है, इस तथ्य को स्मरण रखने और अपनाने
में ही कल्याण है, विस्मरण में नहीं ॥ ९४-१०२ ॥

पुरासप्तर्षयः सप्तस्रोतःक्षेत्रे तु पावने ।
एकत्रिताः प्रयासैः स्वैर्व्यधुरुग्रं तपः समे ॥ १०३ ॥
दुःस्थितिः कालजाः सर्वाः परिवर्तितुमन्ततः ।
जातास्ते सफलास्तेन पूज्यतां ते गताः समे ॥ १०४ ॥
तत्र स्थाने च गन्तव्यं भवद्भिरपि संगतैः ।
प्रयासः सोऽनुकार्यः सा ग्राह्या दिव्या परंपरा ॥ १०५ ॥
टीका—पुरातनकाल में सप्तऋषियों ने हरिद्वार की पावन
भूमि में सप्तसरोवर नामक स्थान पर एकत्रित होकर संयुक्त
प्रयासों से तपश्चर्या की थी और उस समय की बिगड़ी हुई
परिस्थिति को बदलने-सुधारने में सफलता पाई थी तथा सभी
के पूज्य बन गए। आप लोगों को भी वहाँ जाना और प्रयास-
परंपरा का अनुसरण करना चाहिए ॥ १०३-१०५ ॥

उपस्थिते समस्तेऽपि समुदाये स्थितास्तु ये ।
सदस्यास्तत्र तैः व्यक्तिशः क्रमशस्ततः ॥ १०६ ॥
एकैकस्य महर्षेस्तु मंगलां तां परंपराम् ।
कर्तुं प्रचलितां तत्र दायित्वं स्वीकृतं शुभम् ॥ १०७ ॥
संहतैरेव सर्वैश्च कार्यं कर्तुं तथा ततः ।
प्रतिज्ञातं यथा सत्ता प्रयासः स्यात्तु सुन्दरः ॥ १०८ ॥
संयुक्तावयवैः पूर्तिः शरीरस्य निरंतरम् ।

सदावश्यकतानां तु विविधानां विधीयते ॥ १०९ ॥
वयं तथा करिष्याम इति तैर्निश्चितं ततः ।
एकस्त्वनुसरंस्तेषु पतञ्जलि - परंपराम् ॥ ११० ॥
कालानुकूलं कर्तुं तद् योगविज्ञानमुत्तमम् ।
निश्चिकाय यतो गात्रं मृण्मयं स्वर्णतां व्रजेत् ॥ १११ ॥
अपरो याज्ञवल्क्यस्य च्छिन्नप्रायां तु सर्वतः ।
यज्ञविद्यामिहान्वेष्यं योक्तुं निश्चयमागतः ॥ ११२ ॥
तृतीयश्चरकस्याथ वनौषध्युपयोगिताम् ।
कर्तुं मूर्तिमती तत्र दायित्वं तु गृहीतवान् ॥ ११३ ॥
टीका—उपस्थित समुदाय में से प्रत्येक ने एक-एक
ऋषि की मंगलमय परंपरा प्रचलित करने का शुभ उत्तरदायित्व
अपने कंधे पर उठाया। सभी ने इस प्रकार मिल-जुलकर
काम करने की शपथ उठाई मानी वह एक सत्ता का ही संयुक्त
प्रयास हो। समस्त अवयव मिलकर शरीर की अनेकानेक
आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, वैसा ही हम सब भी करेंगे
ऐसा उन्होंने निश्चय किया। एक ने पतञ्जलि परंपरा का
अनुसरण करते हुए योग विज्ञान को समयानुकूल बनाने का
निश्चय किया, ताकि मिट्टी से विनिर्मित शरीर, दोषरहित
सुवर्ण बन जाए। दूसरे ने ऋषि याज्ञवल्क्य की तरह यज्ञ विद्या
की टूटी हुई कड़ियों को फिर से खोजने और जोड़ने की
प्रतिज्ञा की। तीसरे ने चरक की तरह वनौषधियों की उपयोगिता
फिर से मूर्तिमान करने की जिम्मेदारी उठाई ॥ १०६-११३ ॥

तीर्थानां च चतुर्थः स आरण्यकपरंपराम् ।
कर्तुं प्रचलितां कार्यं विधिना निश्चयं व्यधात् ॥ ११४ ॥
पुरोधसां परिव्राजकानां दिव्या तु योजनाम् ।
प्रशिक्षणस्य निर्माणस्याऽकरोद् बहुसंख्यया ॥ ११५ ॥
प्रज्ञासंस्थानरूपे च देश - देशान्तरेष्वपि ।
युगतीर्थानि निर्मातुं निश्चितं दृढरूपतः ॥ ११६ ॥
पञ्चमो निश्चिकायाथ ज्योतिर्विज्ञानसंभवम् ।
आधारं तु समाश्रित्य प्रभावं ग्रहसंभवम् ॥ ११७ ॥
गृहीत्वा पौरुषं नव्यं कर्तुं किमपि तद्विधौ ।
शब्दशक्तेरहो मंत्र विज्ञानस्याथ तत्र तु ॥ ११८ ॥
षष्ठः कर्तुं च प्रत्यक्षं निश्चयं स्वं व्यधाच्छुभम् ।
वर्तते मंत्रविज्ञानं क्षमं सूक्ष्माभिबन्धने ॥ ११९ ॥

टीका—चौथे ने तीर्थों की आरण्यक परंपरा से संबंधित
सभी प्रचलनों को कार्यान्वित करने का निश्चय किया।
पुरोहितों-परिव्राजकों का बड़ी संख्या में निर्माण तथा प्रशिक्षण
की बनाई। युग तीर्थों को प्रज्ञा संस्थानों के रूप में देश-
देशान्तरों में विनिर्मित करने की ठान ली। पाँचवें ने ज्योतिर्विज्ञान
के आधार पर अंतर्ग्रही प्रभावों के साथ तालमेल बिठाने का
पुरुषार्थ नए सिरे से करने का निश्चय किया। छठे ने शब्दशक्ति
मंत्रविज्ञान के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने की ठानी। मंत्र विज्ञान

व सूक्ष्म तत्त्वों को शक्तियों को बाँधने उन्हें सद्बुद्ध करने में समर्थ हैं ॥ ११४-११९ ॥

आस्थासंकटमप्येष सप्तमश्चाश्रयन्नथ ।
तर्कतथ्यप्रमाणानि कर्तुं च जनमानसम् ॥ १२० ॥
परिष्कृतं स्वयं भारं वोढुं निश्चयमागतः ।
नाम प्रज्ञाभियानं च स्थापितं तस्य वै ततः ॥ १२१ ॥
पूर्वं सुनिश्चितस्याथ प्रभोः प्रेरणयाऽपि च ।
क्रियान्वितमिदं कर्तुं सप्तर्षीणां स्थलस्य तु ॥ १२२ ॥
निकटे कर्मठैर्विश्वचिन्तासंव्याप्त - मानसैः ।
विशिष्टैर्निश्चयोऽकार्षीद् गायत्रीतीर्थ - संस्थिते ॥ १२३ ॥
टीका—सातवें ने आस्था-संकट का निवारण करने के लिए तर्कों, तथ्यों और प्रमाणों के सहारे जनमानस के परिष्कार का भार अपने सिर पर वहन करने का निश्चय किया। इस संयुक्त प्रयास का नाम प्रज्ञा-अभियान रखा गया। इसी पूर्व निश्चय व ईश्वर की प्रेरणा के वशीभूत होकर इसे कार्यान्वित करने के लिए प्रमुख सप्तऋषियों की तपस्थली के सन्निकट विश्व कल्याण की चिन्ता से युक्त कर्मठ व्यक्तियों ने गायत्री तीर्थ स्थापित करने का निश्चय किया ॥ १२०-१२३ ॥
उत्साहेन विशालेन निष्ठया च सहैव तु ।
कर्मठास्ते सहैवाशु प्रस्थितास्तत्र सत्वरम् ॥ १२४ ॥
स्थाने च नियते तस्मिन् समायाते च योजना ।
पूर्वोक्ताः सप्तसंयुक्ताः स्थाने तच्छरणं गताः ॥ १२५ ॥

प्रज्ञाभियानमायातं कर्तुमृषिपरंपराम् ।
जीवितां पूर्णवेगेन चोत्साहेन बलीयसा ॥ १२६ ॥
साफल्यं तस्य वीक्ष्यैतच्चकिताः सर्व एव तु ।
पुरातनं पृथिव्यां च पुनः सत्ययुगं समे ॥ १२७ ॥
आयातुं पूर्णमाधारमभियानमिदं शुभम् ।
अमन्यन्त न यत्र स्याद् दुराचारादि - दूषणम् ॥ १२८ ॥
टीका—अपूर्व उत्साह व निष्ठा से ये सभी कर्मठ व्यक्ति साथ-साथ चल पड़े। नियत स्थान पर पहुँचकर उपर्युक्त सातों योजनाएँ संयुक्त होकर एक स्थान पर आ गईं और ऋषि परंपरा को पुनर्जीवित करने वाला प्रज्ञा अभियान अत्यंत उत्साह के साथ तूफानी वेग से चल पड़ा। उसकी सफलता देखकर सभी चकित रह गए और पुरातन सत्ययुग को फिर से वापिस लौट आने का आधार प्रत्यक्ष देखने लगे, सभी ने सोचा अब दुराचार आदि नहीं रहेंगे ॥ १२४-१२८ ॥
आशिषस्तु यथा दत्ता नारदेन हिमालये ।
मंडलस्य सदस्येभ्यो विश्वासश्चपि बोधितः ॥ १२९ ॥
महर्षेर्निश्चितं तेन संकल्पेनोत्तमेन तु ।
सफलेनैव भाव्यं तत्साफल्यं गच्छतीह सः ॥ १३० ॥
टीका—नारद जी ने सभी को जैसा आशीर्वाद हिमालय में दिया था और विश्वास दिलाया था कि उनका संकल्प निश्चित रूप से सफल होना था, वह यहाँ सफल होने लगा ॥ १२९-१३० ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
महर्षिनारदप्रतिपादिते ऋषिपरंपरापुनर्जीवन इति प्रकरणो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥